41

राजपूत राजवंश

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक का काल उत्तर भारत के इतिहास में सामान्यतः 'राजपूत-काल' के नाम से जाना जाता है। सातवीं-आठवीं शती से हमें राजपूतों का उदय दिखाई देने लगता है तथा बारहवीं शती तक आते-आते उत्तर भारत में उनके 36 कुल अत्यन्त प्रसिद्ध हो जाते हैं। राजपूत बड़े वीर तथा स्वाभिमानी होते थे और साहस, त्याग, देश-भक्ति आदि के गुण उनमें कूट-कूट कर भरे हुये थे। परन्तु पारस्परिक संघर्ष तथा द्वेष-भाव के कारण वे देश की रक्षा नहीं कर सके तथा देश की स्वाधीनता को उन्होंने विदेशियों के हाथों में सौंप दिया।

राजपूतों की उत्पत्ति

'राजपूत' शब्द संस्कृत के 'राजपुत्र' का विकृत रूप है। 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग, जो पहले राजकुमार के अर्थ में किया जाता था, पूर्व मध्यकाल में सैनिक वर्गों तथा छोटे-छोटे जमींदारों के लिये किया जाने लगा। वस्तुतः आठवीं शती के उपरान्त 'राजपूत' शब्द शासक वर्ग का पर्याय बन जाता है। इस वर्ग की उत्पत्ति का प्रश्न विद्वानों के बीच अत्यन्त विवाद का विषय रहा है। मुख्यतः इस सम्बन्ध में दो मत दिये जाते हैं—

(1) विदेशी उत्पत्ति का मत।

(2) भारतीय उत्पत्ति का मत।

इसके अतिरिक्त विद्वानों का एक वर्ग राजपूतों को भारतीय तो मानता है लेकिन उनकी क्षत्रियेतर उत्पत्ति का संकेत करता है।

विदेशी उत्पत्ति का मत

राजपूतों की विदेशी उत्पत्ति के मत का प्रतिपादन सर्वप्रथम कर्नल जेम्स टाड ने किया। उनके अनुसार राजपूत विदेशी सीथियन जाति की सन्तान थे। इस मत का आधार सीथियन तथा राजपूत जातियों की कुछ सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओं में समानता है जो टाड के अनुसार इस प्रकार है[1]—

(1) रहन-सहन तथा वेश-भूषा में समानता।

(2) मांसाहार का प्रचलन।

(3) रथों द्वारा युद्ध करना।

(4) यज्ञों का प्रचलन।

चूँकि उपर्युक्त प्रथाओं का प्रचलन सीथियन तथा राजपूत दोनों ही समाजों में था, अतः इस आधार पर कर्नल टाड राजपूतों को सीथियन जाति का वंशज मानते हैं। इसी मत का समर्थन करते हुये विलियम क्रुक ने प्रतिपादित किया है कि तत्कालीन समाज में कई विदेशी जातियाँ निवास करती थीं। ब्राह्मणों का बौद्ध आदि नास्तिक सम्प्रदायों से द्वेष था। अतः उन्होंने कुछ विदेशी जातियों को शुद्धि-संस्कार द्वारा पवित्र करके भारतीय वर्ण-व्यवस्था में स्थान प्रदान कर दिया। इन्हीं को 'राजपूत' कहा जाने लगा।

स्मिथ के अनुसार उत्तर-पश्चिम की राजपूत जातियों—प्रतिहार, चौहान, परमार, चौलुक्य आदि की उत्पत्ति शकों तथा हूणों से हुई थी। इसी प्रकार गहड़वाल, चन्देल, राष्ट्रकूट आदि मध्य तथा दक्षिणी क्षेत्र की जातियाँ गोंड, भर जैसी देशी आदिम जातियों की सन्तान थीं। स्मिथ की धारणा है कि शक-कुषाण आदि विदेशी जातियों ने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया। वे कालान्तर में भारतीय समाज में पूर्णतया घुल-मिल गयीं। उन्होंने यहाँ की संस्कृति को अपना लिया। इन विदेशी

1 टाड : एनल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान.

शासकों को भारतीय समाज में क्षत्रियत्व का पद प्रदान कर दिया गया। मनुस्मृति में शकों को 'व्रात्य क्षत्रिय' कहा गया है। इन जातियों के वीरतापूर्वक कृत्यों को उनके दरबारी चारणों ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया तथा उनकी तुलना रामायण और महाभारत के वीरों से की। भण्डारकर ने भी विदेशी उत्पत्ति के मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार अग्निकुल के चार राजपूत वंश—प्रतिहार, परमार, चौहान तथा सोलंकी—गुर्जर नामक विदेशी जाति से उत्पन्न हुए थे। चौहान तथा गुहिलोत जैसे कुछ वंश विदेशी जातियों के पुरोहित थे। उन्होंने आगे बताया है कि गुर्जर-प्रतिहार वंश के लोग निश्चयतः 'खजर' नामक जाति की सन्तान थे जो हूणों के साथ भारत में आयी थी। पुराणों में हैहय नामक राजपूत जाति का उल्लेख शक, यवन आदि विदेशी जातियों के साथ किया गया है। चन्देल सेनापति आल्हा तथा ऊदल बनाफर क्षत्रिय वंश के थे जो कुषाणों से संबंधित था। कनिष्क के एक गवर्नर का नाम बनस्फर मिलता है। संभव है इसी के वंशज बाद में बनाफर क्षत्रिय कहे गये। हूणों का उल्लेख हम राजपूतों के छत्तीस कुलों में पाते हैं। इससे भी राजपूतों का विदेशी होना सिद्ध होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन विदेशी जातियों को शुद्धि द्वारा भारतीय समाज में सम्मिलित करने के उद्देश्य से ही पृथ्वीराजरासो में अग्निकुण्ड द्वारा राजपूतों की उत्पत्ति बताई गयी है। इस कथा के अनुसार 'जब परशुराम ने क्षत्रियों का विनाश कर दिया तो शासकों का अभाव हो गया। म्लेच्छों तथा राक्षसों के अत्याचार बढ़ गये। पृथ्वी त्रस्त हो उठी। अतः पृथ्वी के त्रास का हरण करने के लिये वशिष्ठ ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ किया जहाँ यज्ञ की अग्निकुण्ड में चार राजपूत कुलों का उद्भव हुआ—परमार, प्रतिहार, चौहान तथा चालुक्य। इस कथा से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भारतीय वर्णव्यवस्थाकारों ने विदेशी जातियों को शुद्धि द्वारा भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थान प्रदान कर दिया था।

भारतीय उत्पत्ति का मत

राजपूतों की उत्पत्ति के उपर्युक्त विदेशी सिद्धान्त का विरोध गौरी शंकर, हीराचन्द ओझा[1] तथा सी० वी० वैद्य[2] जैसे कुछ भारतीय विद्वानों ने किया है। इनकी सम्मति में राजपूत विशुद्ध भारतीय क्षत्रियों की ही सन्तान थे जिनमें विदेशी रक्त का मिश्रण बिल्कुल ही नहीं था। इन विद्वानों के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

(1) टाड ने राजपूत तथा सीथियन जातियों में जिन समान प्रथाओं का संकेत किया है वह कल्पना पर आधारित है। ये सभी प्रथायें भारत की प्राचीन क्षत्रिय जाति में देखी जा सकती हैं।

(2) क्रुक के निष्कर्ष की पुष्टि किसी भी ऐतिहासिक साक्ष्य से नहीं होती है। यह विचार कोरी कल्पना की उपज है।

(3) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि 'खजर' नामक किसी जाति ने कभी भी भारत के ऊपर आक्रमण किया हो। भारतीय अथवा विदेशी किसी भी साक्ष्य में इस जाति का उल्लेख नहीं मिलता है।

(4) पृथ्वीराजरासो में वर्णित अग्निकुल की कथा ऐतिहासिक नहीं लगती। इस कथा का उल्लेख रासो की प्राचीन पाण्डुलिपियों में नहीं मिलता है।

इस प्रकार विदेशी उत्पत्ति का मत कल्पना पर अधिक आधारित है, ठोस तथ्यों पर कम। राजपूत शब्द वस्तुतः 'राजपुत्र' का ही अपभ्रंश है जिसका प्रयोग भारतीय ग्रन्थों में क्षत्रिय जाति के लिये हुआ है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में राजपुत्र शब्द का प्रयोग 'राजन्य' अथवा रक्षक के रूप में हुआ। महाभारत में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाने वाले को 'राजपूत' कहा गया है। आठवीं शती के लेखक भवभूति ने कौशल्या को 'राजपुत्री' कहा है। उत्तरमध्यकालीन साहित्य में भी 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग क्षत्रिय जाति के लिये ही किया गया है। कल्हण की राजतरंगिणी में शाही परिवारों के उत्तराधिकारी को 'राजपुत्र' की संज्ञा प्रदान की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुर्कों द्वारा पराजित हो जाने के बाद राजपुत्रों की राजनैतिक प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी तथा तुर्कों ने अपमानस्वरूप उन्हें 'राजपुत' कहना प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर में यही नाम लोकप्रचलित हो गया। अतः इन विद्वानों के अनुसार राजपूतों को वैदिक क्षत्रियों की सन्तान मानना चाहिए। ओझा ने राजपूतों को विशुद्ध क्षत्रिय सिद्ध करने के लिये मनुस्मृति से उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसमें एक स्थान पर विवृत है कि 'पौण्ड्रक, चोल, द्रविड़, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन मूलतः क्षत्रिय थे किन्तु वैदिक क्रियाओं के त्याग तथा ब्राह्मणों से विमुख हो जाने के कारण उनका क्षत्रियत्व समाप्त हो गया।'[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि शक-यवन

आदि जिन्हें राजपूतों का जनक बताया जाता है, क्षत्रिय ही थे। वस्तुतः प्राचीन क्षत्रिय वर्ण के शासक तथा योद्धा वर्ग के लोग ही बारहवीं शताब्दी में 'राजपूत' कहे गये। यदि वे विदेशी होते तो भारतीय संस्कृति एवं भारत देश के प्रति उनमें इतनी अधिक भक्ति कदापि नही हो सकती थी। परन्तु ये दोनों ही मत अतिवादी हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था में सदा ही विदेशी जातियों के लिये स्थान दिया गया। यहाँ कोई भी जाति ऐसी नहीं थी जिसमें विदेशी रक्त का मिश्रण न हो। कई विदेशियों ने भारतीय वंशों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। सातवाहन तथा ईक्ष्वाकु शासकों ने पश्चिमी क्षत्रपों की कन्याओं के साथ विवाह किये जिसके अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था पर्याप्त लचीली थी। वैदिक काल में क्षत्रियों का कोई विशिष्ट वर्ण नहीं था, अपितु उन लोगों को ही क्षत्रिय कहा गया जो वीर तथा साहसी होते थे। स्वयं क्षत्रिय शब्द का अर्थ है, 'क्षत् अर्थात् हानि से रक्षा करने वाला।' अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि राजपूत क्षत्रियों के वंशज थे तथापि उनमें विदेशी रक्त का मिश्रण अवश्य था। वैदिक क्षत्रियों में विदेशी जाति के वीरों के मिश्रण से जिस नवीन जाति का आविर्भाव हुआ उसे ही राजपूत कहा गया। राजपूत न तो पूर्णरूपेण विदेशी थे और न पूर्णरूपेण भारतीय ही।

आधुनिक सामाजिक-आर्थिक इतिहासकारों ने राजपूत वंश की उत्पत्ति के लिये कुछ सामाजिक प्रक्रियाओं को उत्तरदायी माना है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि राजस्थान तथा गुजरात में प्रारम्भिक राजपूत वंशों का उदय उस समय हुआ जबकि गुप्त साम्राज्य के पतनोपरान्त विदेशी आक्रमणों के कारण अर्थव्यवस्था पतनोन्मुख हो रही थी। ठीक इसी समय देश में सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ भी प्रबल हुई। प्राचीन राजपूताना क्षेत्र, जो राजपूत वंशों का प्रमुख केन्द्र था, में सामन्ती संगठन सुदृढ़ था। इसी कारण वहाँ के छोटे-छोटे भूमिधरों अथवा जमींदारों की संज्ञा 'राजपुत्र' (राजपूत) हो गयी। बारहवीं शती की रचना अपराजितपृच्छा से पता चलता है कि राजपुत्र वर्ग में अधिकांशतः छोटे भूमिधर सरदार ही शामिल थे जो एक या इससे अधिक गाँवों के स्वामी होते थे। उत्तर-गुप्त युग में जाति प्रथा की बढ़ती हुई कठोरता के कारण समाज में इनका विशिष्ट वर्ग बन गया होगा।[1] इसी कारण विद्वानों का एक वर्ग जिनमें दशरथ शर्मा, बी0 एस0 पाठक, वी0 एन0 पाठक आदि हैं, की मान्यता है कि राजपूत जाति में कई क्षत्रियेतर वर्ण भी शामिल थे। इस संदर्भ में मत्स्य पुराण में उल्लिखित 'ब्रह्मक्षत्र परम्परा' की ओर ध्यान दिलाया गया है जो पूर्वमध्यकालीन समाज में व्यापक आधार प्राप्त कर गयी थी। इससे तात्पर्य उन वंशों से है जो पहले ब्राह्मण थे किन्तु बाद में क्षत्रिय हो गये थे। राजपूतकालीन कुछ लेखों तथा साहित्य में कुछ राजपूत वंशों के ब्राह्मण मूल की ओर संकेत किया गया है। घटियाला लेख में प्रतिहारों के मूल पुरुष हरिश्चन्द्र को ब्राह्मण बताया गया है। बिजौलिया लेख में चाहमान शासक सामन्तराज को 'विप्रश्री वत्स' गोत्र में उत्पन्न कहा गया है। पिंगलसूत्रवृत्ति में परमार मुंज को तथा बल्लालचरित में सेनवंशी राजाओं को ब्रह्मक्षत्र कुल का बताया गया है। इसी प्रकार चाट्सु लेख गुहिलवंश को 'ब्रह्मक्षत्र' कहता है। मत्स्य पुराण में भी 'ब्रह्मक्षत्र' परम्परा का उल्लेख मिलता है जहाँ बताया गया है कि कलियुग में ब्रह्मक्षत्र की योनि राजाओं की कल्याणकारी संस्था बनेगी जिसका सप्तर्षि सम्मान करेंगे।[2] अतः स्पष्ट है कि इस समय कई ब्राह्मण कुलों ने भी राजपद प्राप्त कर लेने के बाद अपने को राजपूत घोषित कर दिया तथा समाज में उन्हें इसी रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी। कुछ लेखों से यह भी पता चलता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्णों के बीच वैवाहिक संबंध होने के फलस्वरूप जो सन्तानें उत्पन्न हुई उन्हें 'ब्रह्मक्षत्र' या 'ब्रह्मक्षत्रिय' कहा गया।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि राजपूत वंश की उत्पत्ति भारतीय समाज की विविध जातियों तथा जन-जातियों के साथ-साथ उन विदेशी आक्रामक जातियों से भी हुई जो भारत में बस गयी थीं और हिन्दू समाज ने जिन्हें आत्मसात् कर लिया था। यही कारण है कि पूर्व मध्य काल के कई ग्रन्थों में राजपूतों को मिश्रित वर्ण का बताया गया है। इसमें संदेह नहीं कि इस वंश में उच्च वर्ण के साथ-साथ निम्नवर्ण के रक्त का भी मिश्रण था। इस काल में कई राजवंश क्षत्रियेतर जातियों से भी संबंधित थे।

राजपूतों के प्रमुख राजवंश

गुर्जर-प्रतिहार वंश

अग्निकुल के राजपूतों में सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतिहारवंश था जो गुर्जरों की शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इतिहास में गुर्जर-प्रतिहार कहा जाता है। इस वंश की प्राचीनता पाँचवीं शती तक जाती है। पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोल लेख में

---

1 यादव, बी0 एन0 एस0 : सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया....., —पृष्ठ 33-35

2 ब्रह्म क्षत्रस्य योनिर्वंशों देवर्षि सत्कृतः । क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्था प्राप्स्यति वेकलौ ।। —मत्स्य पुराण, 50.81

गुर्जर जाति का उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है। बाण के हर्षचरित में भी गुर्जरों का उल्लेख किया गया है। चीनी यात्री हुएनसांग कु-चे-लो (गुर्जर) देश का उल्लेख करता है जिसकी राजधानी पि-लो-मो-ली अर्थात भीनमल में थी।

इतिहास के साधन

गुर्जर-प्रतिहार वंश के इतिहास के प्रामाणिक साधन उसके बहुसंख्यक अभिलेख हैं। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय मिहिरभोज का ग्वालियर अभिलेख है जो एक प्रशस्ति के रूप में है। इसमें कोई तिथि अंकित नहीं है। यह प्रतिहारवंश के शासकों की राजनैतिक उपलब्धियों तथा उनकी वंशावली को ज्ञात करने का मुख्य साधन है। इसके अतिरिक्त इस वंश के राजाओं के अन्य अनेक लेख मिलते हैं जो न्यूनाधिक रूप में उनके काल की घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं। प्रतिहारों के समकालीन पाल तथा राष्ट्रकूटवंशों के लेखों से प्रतिहार शासकों का उनके साथ सम्वन्धों का ज्ञान होता है। उनके सामन्तों के लेख भी मिलते हैं जो उनके साम्राज्य-विस्तार तथा शासन-सम्बन्धी घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं।

प्रतिहार युग में अनेक साहित्यिक कृतियों की रचना हुई। इनके अध्ययन से भी तत्कालीन राजनीति तथा संस्कृति का ज्ञान होता है। संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् राजशेखर प्रतिहार राजाओं—महेन्द्रपाल प्रथम तथा उसके पुत्र महीपाल प्रथम के दरबार में रहा था। उसने काव्यमीमांसा, कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण, भुवनकोश आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इनके अध्ययन से तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का ज्ञान होता है। जयानक कवि द्वारा रचित 'पृथ्वीराजविजय' से पता चलता है कि चाहमान शासक दुर्लभराज प्रतिहार वत्सराज का सामन्त था तथा उसकी ओर से पालों के विरुद्ध युद्ध किया था। जैन लेखक चन्द्रप्रभसूरि के ग्रन्थ 'प्रभावकप्रशस्ति' से नागभट्ट द्वितीय के विषय में कुछ सूचनायें मिलती हैं। कश्मीरी कवि कल्हण की 'राजतंरंगिणी' से मिहिरभोज की उपलब्धियों का ज्ञान प्राप्त होता है।

समकालीन अरव लेखकों के विवरण भी प्रतिहार इतिहास पर कुछ प्रकाश डालते हैं। इनमें सुलेमान का विवरण उल्लेखनीय है। वह मिहिरभोज की शक्ति एवं उसके राज्य की समृद्धि की प्रशंसा करता है। दूसरा लेखक अलमसूदी है जो दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पंजाव आया था। उसके विवरण से महीपाल प्रथम के विषय में कुछ सूचनायें प्राप्त होती हैं। प्रायः सभी मुसलमान लेखक प्रतिहारों की शक्ति, देशभक्ति तथा समृद्धि की प्रशंसा करते हैं।

इस प्रकार अभिलेख, साहित्य तथा अरव लेखकों के विवरण, इन तीनों का उपयोग हम प्रतिहारवंश के इतिहास का अध्ययन करने के लिये करते हैं।

उत्पत्ति

विभिन्न राजपूत वंशों की उत्पत्ति के समान गुर्जर-प्रतिहारवंश की उत्पत्ति भी विवादग्रस्त है। राजपूतों की उत्पत्ति के विदेशी मत के समर्थन में विद्वानों ने उसे 'खजर' नामक जाति की संतान कहा है जो हूणों के साथ भारत में आई थी। इस मत का समर्थन सवसे पहले कैम्पवेल तथा जेक्सन ने किया और वाद में भण्डारकर तथा त्रिपाठी आदि भारतीय विद्वानों ने भी इसे पुष्ट कर दिया। किन्तु यह मत कोरी कल्पना पर आधारित है क्योंकि विदेशी आक्रमणकारियों में खजर नामक किसी भी जाति के विषय में हमें भारतीय अथवा विदेशी साक्ष्य से कोई भी सूचना नहीं मिलती। खजर तथा गुजर या गुर्जर में शब्दों के अतिरिक्त कोई भी साम्य नहीं लगता।

सी0 वी0 वैद्य, जी0 एस0 ओझा, दशरथ शर्मा जैसे अनेक विद्वान् गुर्जर प्रतिहारों को भारतीय मानते हैं। वे इस शब्द का अर्थ 'गुर्जरदेश का प्रतिहार अर्थात् शासक' लगाते हैं। के0 एम0 मुन्शी ने विभिन्न उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि गुर्जर शब्द स्थानवाचक है, जातिवाचक नहीं। 'गुर्जर' शब्द का उल्लेख पाँचवीं-छठीं शती से मिलने लगता है। इन विद्वानों का विचार है कि यदि गुर्जर जाति विदेशों से आकर भारतीय क्षत्रिय समाज में समाहित होती तो उसका पुराना नामनिशान विल्कुल समाप्त नहीं होता। भारत के शास्त्रकारों ने विदेशियों को सदा शूद्र पद प्रदान किया है। हूणों को म्लेच्छ कहा गया है। किन्तु जहाँ तक गुर्जरों का प्रश्न है उन्हें सर्वत्र ब्राह्मण कहा गया है। हुएनसांग गुर्जरनरेश को क्षत्रिय बताता है। पृथ्वीराजरासो में अग्निकुल के राजपूतों की जो कथा मिलती है उसकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है। दशरथशर्मा, ओझा आदि ने बताया है कि इस कथा का उल्लेख रासो की प्राचीन पाण्डुलिपियों में अप्राप्य है। इस प्रकार खजर जाति से गुर्जरों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती है। साहित्य अथवा इतिहास में कहीं भी उन्हें विदेशियों से नहीं जोड़ा गया है। उनके लेखों से जो संकेत मिलते हैं उनके आधार पर हम उन्हें ब्राह्मण मूल का स्वीकार कर सकते हैं जिन्होंने कालान्तर में क्षत्र-धर्म ग्रहण कर लिया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रतिहारी नामक वैदिक याजकों का उल्लेख मिलता है। लगता है उन्होंने ही वाद में अपने कर्मों को छोड़कर क्षत्रियों की वृत्ति अपना ली तथा अपने को राम के भाई लक्ष्मण से सम्बद्ध कर लिया।[1]

1. वी0 एन0 पाठक : उत्तर का राजनैतिक इतिहास, पृष्ठ 126.

गुर्जर-प्रतिहारों ने आठवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक शासन किया। ग्वालियर अभिलेख में इस वंश के शासक राम के भाई लक्ष्मण, जो उनके प्रतिहार (द्वारपाल) थे, का वंशज होने का दावा करते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इस वंश का आदि शासक राष्ट्रकूट राजाओं के यहाँ प्रतिहार के पद पर काम करता था, अतः इन्हें प्रतिहार कहा गया। गुर्जर-प्रतिहारों का मूल स्थान निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। स्मिथ, हुएनसांग के आधार पर उनका आदि स्थान आबू पर्वत के उत्तर-पश्चिम में स्थित भीममल मानते हैं। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार उनका मूल निवास-स्थान उज्जयिनी (अवन्ति) में था।

राजनैतिक इतिहास

नागभट्ट प्रथम

गुर्जर-प्रतिहार वंश का संस्थापक नागभट्ट प्रथम (730-756 ईस्वी) था। वह एक पराक्रमी शासक था। ग्वालियर अभिलेख से पता चलता है कि उसने एक शक्तिशाली म्लेच्छ शासक की विशाल सेना को नष्ट कर दिया। यह म्लेच्छ संभवतः सिन्ध का अरब शासक था। इस प्रकार नागभट्ट ने अरबों के आक्रमण से पश्चिमी भारत की रक्षा की तथा उनके द्वारा रौंदे हुए अनेक प्रदेशों को पुनः जीत लिया। ग्वालियर लेख में कहा गया है कि 'म्लेच्छ राजा की विशाल सेनाओं को चूर करने वाला मानो नारायणरूप में वह लोगों की रक्षा के लिये उपस्थित हुआ था।' ऐसा प्रतीत होता है कि नागभट्ट ने अरबों को परास्त कर भड़ौंच के आस-पास का क्षेत्र छीन लिया तथा अपनी ओर से चाहमान शासक भतृवड्ढ द्वितीय को वहाँ का शासक नियुक्त किया। हांसोट लेख से इसकी पुष्टि होती है जो नागभट्ट के समय में जारी करवाया गया था। इसके पहले अरबों ने जयभट्ट को पराजित कर भड़ौच पर अपना अधिकार कर लिया था। किन्तु नागभट्ट ने पुनः वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर भतृवड्ढ को शासक बनाया। नागभट्ट का समकालीन अरव शासक जुनैद था। मुस्लिम लेखक अल् बिलादुरी के विवरण से पता चलता है कि जुनैद को मालवा (उज्जैन) के विरुद्ध सफलता नहीं मिली थी। इस प्रकार गुजरात तथा राजपूताना के एक वड़े भाग का वह शासक बन बैठा।

वत्सराज

नागभट्ट प्रथम के पश्चात् उसके दो भतीजों—कक्कुक तथा देवराज—ने शासन किया। वे दोनों निर्वल शासक थे जिनकी किसी भी उपलब्धि के विषय में हमें ज्ञात नहीं है। इस वंश का चौथा शासक वत्सराज (775-800 ईस्वी) हुआ जो देवराज का पुत्र था। वह एक शक्तिशाली शासक था जिसे प्रतिहार साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जा सकता है। उसने कन्नौज पर आक्रमण कर वहाँ के शासक इन्द्रायुध को हराया तथा उसे अपने अधीन कर लिया। ग्वालियर अभिलेख से पता चलता है कि उसने प्रसिद्ध भण्डीवंश को पराजित कर उसका राज्य छीन लिया। कुछ विद्वान इस वंश की पहचान हर्ष के ममेरे भाई भण्डि द्वारा स्थापित वंश से करते हैं। लेकिन यह संदिग्ध है क्योंकि हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि भण्डि ने कोई स्वतंत्र वंश अथवा राज्य स्थापित किया था। कुछ अन्य इतिहासकार इसे जोधपुर लेख में उल्लिखित 'भट्टिकुल' वताते हैं। इस प्रकार इस विषय में कुछ निश्चित नहीं हो पाता।

वत्सराज को सर्वाधिक महत्वपूर्ण सफलता गौड़ों के विरुद्ध प्राप्त हुई। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय के राधनपुर से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि वत्सराज ने गौड़देश के शासक को पराजित किया था। इसके अनुसार 'मदान्ध वत्सराज ने गौड़ की राजलक्ष्मी को आसानी से हस्तगत कर उसके दो राजछत्रों को छीन लिया था।' जयानक कृत पृथ्वीराज विजय से पता चलता है कि उसके सामन्त दुर्लभराज ने गौड़ देश पर आक्रमण कर विजय प्राप्त किया था। मजूमदार का विचार है कि प्रतिहारों तथा पालों के बीच युद्ध दोआब में कहीं हुआ तथा प्रतिहार सेनायें बंगाल में नहीं घुसी। यह वत्सराज की सबसे बड़ी सफलता थी। यह पराजित नरेश पालवंशी शासक धर्मपाल था। इस प्रकार वत्सराज उत्तर भारत के एक विशाल भूभाग का स्वामी वन बैठा। परन्तु राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने उस पर आक्रमण किया तथा युद्ध में बुरी तरह परास्त कर दिया। भयभीत होकर वत्सराज राजपूताना के रेगिस्तान की ओर भाग गया। राष्ट्रकूट लेखों-राधनपुर तथा बनी दिन्दोरी, से पता चलता है कि ध्रुव ने वत्सराज को पराजित करने के साथ-साथ उन दोनों श्वेत राजछत्रों को भी हस्तगत कर लिया जिन्हें उसने गौड़नरेश से छीना था। ध्रुव का आक्रमण एक धावा मात्र था। उत्तर में अपनी शक्ति का अहसास कराने के उपरान्त वह स्वदेश लौट गया। ध्रुव के वापस लौटने के बाद भी वत्सराज अवन्ति पर अधिकार नहीं कर पाया तथा उसकी शक्ति निर्बल वनी रही। इसका लाभ उठाते हुए उसके पाल प्रतिद्वन्दी धर्मपाल ने भी वत्सराज को परास्त किया। उसने कन्नौज से वत्सराज द्वारा मनोनीत शासक इन्द्रायुध को हटाकर उसके स्थान पर चक्रायुध को शासक बनाया। उसने कन्नौज में एक दरवार किया जिसमें उत्तर भारत के अधीनस्थ राजाओं ने भाग लिया। इसमें वत्सराज को भी उपस्थित होने के लिये वाध्य होना पड़ा तथा उसकी स्थिति अधीन शासक जैसी हो गयी।

नागभट्ट द्वितीय

वत्सराज के पश्चात् उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय (800–833 ईस्वी) गुर्जर–प्रतिहारों का राजा हुआ। वह अपने वंश की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने में जुटा। ग्वालियर लेख में उसकी उपलब्धियों का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार उसने कन्नौज पर आक्रमण कर चक्रायुध को वहाँ से भगा दिया तथा कन्नौज को अपनी राजधानी बनाई। नागभट्ट ने आन्ध्र, सिन्ध, विदर्भ तथा कलिंग को भी जीता। लेख में कहा गया है कि इन देशों के राजाओं ने उसके सम्मुख उसी प्रकार आत्मसमर्पण कर दिया जिस प्रकार से पतंग दीपशिखा के समक्ष करते हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में पालों तथा दक्षिण में राष्ट्रकूटों की शक्ति से भयभीत होकर ही इन राज्यों ने प्रतिहार नरेश के समक्ष समर्पण किया होगा। अपनी स्थिति मजबूत बना लेने के बाद नागभट्ट ने पालों के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया जिनके शासक धर्मपाल के हाथों उसके पिता वत्सराज की पराजय हुई थी। मुंगेर के समीप एक युद्ध में उसने धर्मपाल के नेतृत्व में पालसेना को भी पराजित कर दिया। इस युद्ध में कक्क, बाहुक धवल तथा शंकरगण जैसे उसके सामन्तों ने भी भाग लिया था। चाटसु लेख में कहा गया है कि शंकरगण ने गौड़नरेश को हराया तथा समस्त विश्व को जीतकर अपने स्वामी को समर्पित कर दिया था। यहाँ स्वामी से तात्पर्य नागभट्ट से ही है। इस प्रकार वह उत्तरी भारत का शक्तिशाली शासक बन बैठा। अपनी सफलता एवं पराक्रम को सूचित करने के लिये नागभट्ट ने परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की।

परन्तु नागभट्ट की शक्ति एवं पराक्रम को राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द सहन नहीं कर सका। अपने पिता की भाँति उसने भी उत्तर की राजनीति में हस्तक्षेप किया। सर्वप्रथम उसने अपने भाई इन्द्र को गुजरात का राज्यपाल बनाया तथा फिर पूरी शक्ति के साथ नागभट्ट पर आक्रमण किया। मन्ने, सिसवै तथा राधनपुर के लेखों से इस बात की सूचना मिलती है कि नागभट्ट बुरी तरह पराजित किया गया। अल्तेकर का विचार है कि दोनों के बीच युद्ध बुन्देलखण्ड के किसी क्षेत्र में लड़ा गया था। गोविन्द ने चक्रायुध तथा धर्मपाल को पराजित किया और विजय करते हुए हिमालय तक जा पहुँचा। किन्तु सदा की भांति इस बार ही निजी कारणों से राष्ट्रकूटों को दक्षिण लौटना पड़ा। इस पराजय से नागभट्ट हताश नहीं हुआ तथा उसने उत्तर भारत के अनेक राज्यों की विजय कर इस क्षति की पूर्ति कर ली। ग्वालियर अभिलेख में उसे आनर्त, किरात, तुरुष्क, वत्स, मत्स्य आदि का विजेता कहा गया है। उसने लगभग उन सभी प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया जो पहले धर्मपाल के अधीन थे। शाकम्भरी के चाहमान शासक भी उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। अब नागभट्ट का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा नदी तक तथा गुजरात से लेकर बंगाल की सीमा तक विस्तृत हो गया। इस प्रकार वह अपने वंश का एक प्रतापी शासक था जिसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी।

रामभद्र

नागभट्ट द्वितीय के बाद उसका पुत्र रामभद्र गद्दी पर बैठा। वह अत्यन्त दुर्बल शासक था जिसने मात्र तीन वर्षों तक राज्य किया। उसके समय में प्रतिहारों को पालों के हाथों पराजय उठानी पड़ी। नारायणपाल के बादल लेख से सूचित होता है कि देवपाल ने गुर्जर राजाओं के घमण्ड को चूर–चूर कर दिया था। यहां तात्पर्य रामभद्र से ही प्रतीत होता है। किन्तु साम्राज्य के कुछ दूरस्थ प्रदेशों पर उसका अधिकार बना रहा।

मिहिरभोज प्रथम

रामभद्र का पुत्र और उत्तराधिकारी मिहिरभोज प्रथम (836–885 ईस्वी) इस वंश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण शासक था। वह उसकी पत्नी अप्पादेवी से उत्पन्न हुआ था। लेखों से उसके दो अन्य नाम प्रभास तथा आदिवराह भी मिलते हैं। उसके शासनकाल की घटनाओं की सूचना अनेक लेखों से प्राप्त होती है जिनमें से कुछ स्वयं उसी के तथा कुछ उसके उत्तराधिकारियों के हैं। उसका सर्वप्रमुख लेख ग्वालियर से मिलता है जो प्रशस्ति के रूप में है। लेखों के अतिरिक्त कल्हण तथा अरब यात्री सुलेमान के विवरणों से भी हम उसके काल की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

राजा बनने के उपरान्त मिहिरभोज का पहला महत्वपूर्ण कार्य साम्राज्य का दृढ़ीकरण था। सर्वप्रथम उसने अपने पिता के निर्बल शासन–काल में स्वतन्त्र हुए प्रान्तों को पुनः अपनी अधीनता में किया। उसने मध्य भारत तथा राजपूताना में पुनः अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। उसने कलचुरिचेदि तथा गुहिलोत वंशों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। इन वंशों के राजाओं ने उसके अभियानों में सहायता दी। ग्वालियर लेख में कहा गया है कि 'अगस्त्य ऋषि ने तो केवल विन्ध्य पर्वत का विस्तार अवरूद्ध किया था किन्तु इसने (भोज ने) कई राजाओं पर आक्रमण कर उसका विस्तार रोक दिया।' उत्तर भारत में किये गये उसके अभियानों में गुहिलवंशी हर्षराज, जो उसका एक सामान्त था, ने भोज की सहायता की थी। चाटसु लेख के अनुसार उसने उत्तर भारत के राजाओं को परास्त कर भोज को घोड़े उपहार में दिये थे। यह भी वर्णित है

1. आन्ध्र सैन्धव विदर्भ कलिंग भूपैः कौमारधामनि पतंग समैरपाति ।

कि उसने गौड़नरेश को पराजित किया तथा पूर्वी भारत के शासकों से कर प्राप्त किया था। कलचुरिवंशी गुणाम्बोधिदेव भी उसका सामन्त था। पहेवा (पूर्वी पंजाब) लेख से सूचित होता है कि हरियाणा प्रदेश उसके राज्य में शामिल था। भोज का एक खण्डित लेख दिल्ली में पुराना किला से मिलता है जो वहाँ उसके अधिकार का सूचक है। बी0 एन0 पुरी का मत है कि ऊणा लेख में उल्लिखित बलवर्मा मिहिरभोज का काठियावाड़ में सामन्त था जिसने अपने स्वामी की ओर से लड़ते हुए हूणों को हराया था। देवगढ़ (झांसी) तथा ग्वालियर के लेखों से भोज का मध्य भारत पर अधिकार पुष्ट होता है। इस प्रकार अपने राज्यारोहण के पश्चात् मिहिरभोज ने अपनी राजनीतिक स्थिति विभिन्न क्षेत्रों में काफी सुदृढ़ बना लिया।

मिहिरभोज के समय में भी प्रतिहारों की पालों तथा राष्ट्रकूटों के साथ पुरानी प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। मिहिरभोज दो पाल राजाओं—देवपाल तथा विग्रहपाल का समकालीन था। एक ओर जहाँ पाल लेख प्रतिहारों पर विजय का विवरण देते हैं, वहीं दूसरी ओर प्रतिहार लेख पालों पर विजय का दावा प्रस्तुत करते हैं। पालकालीन बादल लेख में कहा गया है कि देवपाल ने गुर्जर नरेश को पराजित किया। इसके विपरीत ग्वालियर लेख में वर्णित है कि 'जिस लक्ष्मी ने धर्म (पाल) के पुत्र का वरण किया था उसी ने बाद में, भोज को दूसरे पति के रूप में चुना।' अतः वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि प्रारम्भिक युद्ध में तो देवपाल को मिहिरभोज के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई, लेकिन उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी नारायणपाल के समय में अथवा देवपाल के शासन के अन्तिम दिनों में ही मिहिरभोज ने अपनी पराजय का बदला ले लिया। पाल साम्राज्य के पश्चिमी भागों पर उसका अधिकार हो गया।

मिहिरभोज के दूसरे शत्रु राष्ट्रकूट थे। पालों से निपटने के पश्चात् वह राष्ट्रकूटों की ओर मुड़ा। मिहिरभोज दो राष्ट्रकूट राजाओ—अमोघवर्ष तथा कृष्ण द्वितीय का समकालीन था। अमोघवर्ष शान्त प्रकृति का शासक था। उसके समय में मिहिरभोज ने उज्जैन पर अधिकार करते हुए नर्मदा नदी तक धावा बोला। बग्गुमा लेख से विदित होता है कि ध्रुव ने उसकी सेना को पराजित कर भगा दिया था। वह ध्रुव राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा का ध्रुव द्वितीय था जो अमोघवर्ष का सामन्त था। लेख से मात्र यही निष्कर्ष निकलता है कि भोज को राष्ट्रकूट क्षेत्रों में कोई सफलता नहीं मिली, तथा उसे क्षणिक पराभव का मुख देखना पड़ा। अमोघवर्ष के पुत्र कृष्ण द्वितीय के समय में भी दोनों राजवंशों का संघर्ष चलता रहा। इस समय राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय (878–914 ईस्वी) चालुक्यों के साथ युद्ध में फँसा हुआ था। भोज ने उस पर आक्रमण कर नर्मदा नदी के तट पर उसे परास्त किया। इस विजय के फलस्वरूप मालवा पर उसका अधिकार स्थापित हो गया। इसके बाद वह गुजरात की ओर बढ़ा तथा खेटक (खेड़ा जिला) के आस–पास के भूभाग को जीत लिया। गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटों का 888 ईस्वी के बाद कोई उल्लेख नहीं मिलता जो इस बात का सूचक है कि यह प्रदेश प्रतिहारों ने जीत लिया था। राष्ट्रकूट अभिलेखों देवली तथा करहाट से पता चलता है कि भोज तथा कृष्ण के बीच उज्जयिनी में एक भीषण युद्ध हुआ जिसमें कृष्ण ने भोज को भयाक्रान्त कर दिया। किन्तु ऐसा लगता है कि इस युद्ध का कोई निर्णायक परिणाम नहीं निकला तथा मालवा पर भोज का अधिकार बना रहा। इसके बाद भी दोनों वंशों में उज्जैन पर अधिकार को लेकर युद्ध होते रहे। लेकिन खेटक के आस–पास का भाग पुनः राष्ट्रकूटों के हाथों में चला गया। 910 ई0 में हम उत्तरी गुजरात में ब्रह्मवलोक वंश के प्रचण्ड नामक एक नये सामन्त को शासन करते हुए पाते हैं। इन्द्र तृतीय (914–928 ई0) के समय में गुजरात का शासन सीधे मान्यखेत से होने लगा। 915 ई0 में इन्द्र ने वहाँ एक ब्राह्मण को दिये गये दान की पुष्टि की जो वहाँ उसके अधिकार का सूचक है।

इस प्रकार भोज ने उत्तर भारत में एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया। उत्तर–पश्चिम में उसका साम्राज्य पंजाब तक विस्तृत था। पूर्व में गोरखपुर के कलचुरि उसके सामन्त थे तथा सम्पूर्ण अवध का क्षेत्र उसके अधीन था। कहल लेख (गोरखपुर जिला) से पता चलता है कि कलचुरिशासक गुणाम्बोधि ने भोज से कुछ भूमि पाई थी। जयपुर क्षेत्र का गुहिलोत शासक हर्षराज भी उसका सामन्त था। दक्षिणी राजस्थान के प्रतापगढ़ से भोज के उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल का लेख मिलता है जो उस भाग पर उसके अधिकार की पुष्टि करता है। बुन्देलखण्ड के चन्देल उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। दक्षिण में उसका साम्राज्य नर्मदा नदी तक विस्तृत था। उसने कन्नौज को इस विशाल साम्राज्य की राजधानी बनाई तथा लगभग 50 वर्षों तक शासन किया। भोज वैष्णव धर्मानुयायी था तथा उसने 'आदिवाराह' एवं 'प्रभास' जैसी उपाधियाँ धारण की थीं। निश्चयतः वह गुर्जर–प्रतिहारों का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक हुआ।

भोज के शासन–काल का अरब यात्री सुलेमान बड़े उच्च शब्दों में वर्णन करता है। उसके अनुसार "इस राजा के पास बहुत बड़ी सेना है। अन्य किसी राजा के पास उसके जैसी अश्वसेना नहीं है। वह अरबों का सबसे बड़ा शत्रु है, यद्यपि वह अरबों के राजा को सबसे बड़ा राजा मानता है। भारत के राजाओं में उससे बड़ा इस्लाम का कोई दूसरा शत्रु नहीं है। वह अपार धन एवं ऐश्वर्य युक्त है। भारत में उसके अतिरिक्त कोई राज्य नहीं है जो डाकुओं से इतना सुरक्षित हो।" भोज के लेखों तथा मुद्राओं पर अंकित 'आदिवराह' उपाधि यह सूचित करती है कि देश को म्लेच्छों (अरबों) से

प्राप्त कराना वह अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है। अरब उससे बहुत अधिक डरते थे। 915–16 ई0 में सिन्ध की यात्रा करने वाले मुस्लिम यात्री अलमसूदी यहाँ तक लिखता है कि 'अपनी शक्ति के केन्द्र मुल्तान में अरबों ने एक सूर्य मन्दिर को तोड़ने से बचा रखा था। जब भी प्रतिहारों के आक्रमण का भय होता था तो वे उस मन्दिर की मूर्ति को नष्ट कर देने का भय पैदा कर अपनी रक्षा कर लेते थे।' बिलादुरी कहता है कि अरबों को अपनी रक्षा के लिये कोई सुरक्षित स्थान मिलना ही कठिन था। उन्होंने एक झील के किनारे अलहिन्द सीमा पर अल–महफूज नामक एक शहर बसाया था जिसका अर्थ सुरक्षित होता है। इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भोज ने पश्चिम में अरबों के प्रसार को रोक दिया था। अपने इस वीर कृत्य द्वारा उसने भारत–भूमि की महान् सेवा की थी।

महेन्द्रपाल प्रथम

मिहिरभोज प्रथम के बाद उसकी पत्नी चन्द्रभट्टारिका देवी से उत्पन्न पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (885–910 ईस्वी) शासक बना। उसने न केवल अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त साम्राज्य को अक्षुण्य बनाये रखा, अपितु पूर्व में उसका विस्तार भी किया।

महेन्द्रपाल प्रथम के शासन–काल से सम्बन्धित घटनाओं की सूचना देने वाले लेख भोज से अधिक हैं। उसके कई सामन्तों के लेखों में भी उसका उल्लेख मिलता है। लेखों में उसे परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर कहा गया है। दक्षिणी बिहार तथा बंगाल के कई स्थानों से उसके लेख मिलते हैं। इनमें बिहारशरीफ (पटना) से उसके शासन काल के चौथे वर्ष के दो लेख, रामगया तथा गुनरिया (गया) से प्राप्त आठवें तथा नौवे वर्ष के लेख, इटखौरी (हजारीबाग) का लेख तथा पहाड़पुर (राजशाही–बंगाल) से प्राप्त पाँचवे वर्ष का लेख आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उल्लेखनीय है कि महेन्द्रपाल के पिता भोज का कोई लेख इन क्षेत्रों से नहीं मिलता। अतः यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि इन स्थानों की विजय महेन्द्रपाल ने ही की थी। उसका पाल समकालीन नारायणपाल एक निर्बल राजा था। मगध क्षेत्र से उसके शासन काल के सत्रहवें वर्ष तक का लेख मिलता है। किन्तु इसके बाद फिर चौवनवें वर्ष का लेख मिलता है। इससे सूचित होता है कि इस अवधि (17–54 वर्ष) में मगध क्षेत्र पर प्रतिहारों का अधिकार हो गया था। महेन्द्रपाल ने और आगे विजय करते हुए बंगाल तक का प्रदेश भी जीत लिया होगा जैसा कि उसके पहाड़पुर लेख से प्रमाणित होता है। काठियावाड़, पूर्वी पंजाब, झाँसी तथा अवध से भी उसके लेख मिलते हैं जो उसके साम्राज्य–विस्तार की सूचना देते हैं। मालवा का परमार शासक वाक्पति भी संभवतः उसकी अधीनता स्वीकार करता था। काठियावाड़ के चालुक्य शासक भी उसके सामन्त थे जैसा कि ऊणा लेख से ध्वनित होता है। यहाँ से दो लेख मिलते है जिनमें चालुक्य बलवर्मा तथा उसके पुत्र अवन्तिवर्मा का उल्लेख सामन्त के रूप में मिलता है। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द चतुर्थ के एक लेख में कहा गया है कि कृष्ण द्वितीय ने किसी बड़े शत्रु को पराजित कर खेटकमण्डल (गुजरात) पर अपनी ओर से किसी व्यक्ति को राजा बनाया था। इससे ध्वनित होता है कि उसके पूर्व कुछ समय के लिये महेन्द्रपाल ने गुजरात अन्तर्गत खेटक क्षेत्र को भी जीत लिया था किन्तु बाद में राष्ट्रकूटों का वहाँ अधिकार हो गया। इस प्रकार महेन्द्रपाल ने एक अत्यन्त विस्तृत साम्राज्य पर शासन किया। उसने जीवन–पर्यन्त अपने शत्रुओं को दबाकर रखा।

महेन्द्रपाल न केवल एक विजेता एवं साम्राज्य निर्माता था, अपितु कुशल प्रशासक एवं विद्या और साहित्य का महान् संरक्षक भी था। उसकी राज्यसभा में प्रसिद्ध विद्वान् राजशेखर निवास करते थे जो उसके राजगुरु थे। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी, काव्यमीमांसा, विद्धशालभञ्जिका, बालरामायण, भुवनकोश, हरविलास जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की थी। उनकी रचनाओं से कन्नौज नगर के वैभव एवं समृद्धि का पता चलता है। इस प्रकार विभिन्न स्रोतों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महेन्द्रपाल के शासन–काल में राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से प्रतिहार साम्राज्य की अभूतपूर्व प्रगति हुई। कन्नौज ने एक बार पुनः वही गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर लिया जो हर्षवर्धन के काल में उसे प्राप्त था। यह नगर हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र बन गया तथा शक्ति और सौन्दर्य में इसकी बराबरी करने वाला दूसरा नगर न रहा।

महीपाल

महेन्द्रपाल के पश्चात् प्रतिहार वंश के उत्तराधिकारी का प्रश्न कुछ विवादग्रस्त है। उसकी दो पत्नियाँ थीं जिनसे दो पुत्र—भोज द्वितीय तथा महीपाल—थे। महेन्द्रपाल के बाद संभवतः कुछ समय के लिये भोज द्वितीय ने शासन किया। उसे अपने सामन्त चेदिनरेश कोक्कलदेव प्रथम से काफी सहायता मिली थी तथा संभवतः उसी की सहायता से भोज ने सिंहासन पर अधिकार जमा लिया था। इसका संकेत कोक्कलदेव के बिल्हारी लेख में हुआ है जहाँ बताया गया है कि समस्त पृथ्वी को जीतकर उसने दो कीर्त्तिस्तम्भ स्थापित किये—दक्षिण में कृष्णराज तथा उत्तर में भोजदेव। बनारस दान पत्र में कहा गया है कि कोक्कल ने भोज को अभयदान दिया था।

किन्तु भोज मात्र दो वर्षों तक ही शासन कर पाया तथा शीघ्र ही उसका सौतेला भाई महीपाल शासक बना। उसे चन्देल वंश के राजा हर्षदेव से काफी सहायता मिली। संभवतः उसने भोज को पराजित किया तथा सिंहासन पर अधिकार कर लिया। खुजराहों लेख से पता चलता है कि 'हर्षदेव ने क्षितिपाल को सिंहासन पर पुनर्स्थापित किया था' (पुनर्येनक्षितिपालदेवनृपतिः सिंहासने स्थापितः)। यहां क्षितिपाल से तात्पर्य महीपाल से ही है। उसने 912 ईस्वी से 944 ईस्वी तक शासन किया। उसका शासन-काल शान्ति एवं समृद्धि का काल रहा। उसने अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा तथा उसका कुछ विस्तार भी किया। गुजरात जैसे दूरवर्ती प्रदेश पर भी उसका अधिकार बना रहा तथा वहाँ उसका सामन्त धरणिवराह शासन करता था।

परन्तु पूर्व की भाँति इस समय भी राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों को शान्तिपूर्वक शासन नहीं करने दिया। इस समय राष्ट्रकूट वंश में इन्द्र तृतीय शासन कर रहा था। उसने एक सेना के साथ महीपाल पर आक्रमण किया। खम्भात (काम्बे) दानपत्र के अनुसार उसने मालवा पर आक्रमण कर उज्जैन पर अधिकार कर लिया तथा उसकी सेना ने यमुना नदी को पार कर कुशस्थल नाम से प्रसिद्ध महोदय नगर (कन्नौज) को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इन्द्र के अभियान में उसके चालुक्य सामन्त नरसिंह ने भी सहायता दी। इसका उल्लेख कन्नड़कवि पम्प (941 ई0) ने अपने ग्रन्थ पम्पभारत में किया है जो नरसिंह का आश्रित कवि था। इस युद्ध में महीपाल पराजित हुआ तथा जान बचाकर भागा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्थिति का लाभ उठाते हुए पालों ने भी बिहार के उन क्षेत्रों पर पुनः अपना अधिकार कर लिया जिन्हें पहले महेन्द्रपाल ने विजित किया था। पाल नरेश राज्यपाल तथा गोपाल द्वितीय के लेख क्रमशः नालन्दा तथा गया से मिलते हैं। ये दोनों ही महीपाल के समकालीन थे। लेखों की प्राप्ति स्थानों से सूचित होता है कि बिहार का बड़ा भाग पाल अधिकार में चला गया तथा कुछ समय के लिये प्रतिहारों की स्थिति अत्यन्त निर्बल पड़ गयी। यह सब राष्ट्रकूटों के आक्रमण का ही परिणाम था। परन्तु इन्द्र तृतीय कन्नौज में अधिक समय तक नहीं ठहर सका तथा उसे शीघ्र ही दक्षिण लौटना पड़ा।

राष्ट्रकूटों के प्रत्यावर्तन के पश्चात् महीपाल ने पुनः अपनी स्थिति सुदृढ़ करना प्रारम्भ कर दिया। चन्देल तथा गुहिलोत वंश के अपने सामन्त शासकों की सहायता प्राप्त कर उसने कन्नौज, गंगा-यमुना के दोआब, बनारस, ग्वालियर तथा पश्चिम में काठियावाड़ तक के प्रदेशों पर पुनः अपना अधिकार कर लिया। राजशेखर उसे 'आर्यावर्त्त का महाराजाधिराज' कहता है। उसकी विजयों का विवरण देते हुए वह लिखता है 'महीपाल ने मुरलों के सिरों के बालों को झुकाया, मेकलों को अग्नि के समान जला दिया, कलिंग राज को युद्ध से भगा दिया, केरल राज की केलि का अन्त किया, कुलूतों को जीता, कुन्तलों के लिये परशु का काम किया तथा रमठों की लक्ष्मी को बलपूर्वक अधिग्रहीत कर लिया।'[1] इनमें मुरल संभवतः नर्मदा घाटी की कोई जाति थी। राजशेखर ने इसे कावेरी तथा बनवासी के मध्य स्थित वताया है। मेकल राज्य नर्मदा के उद्‌गम स्थल अमरकण्टक में स्थित प्रदेश था। कलिंग उड़ीसा में तथा केरल तमिल देश मे स्थित था। कुलूत तथा रमठ की स्थिति पंजाब में मानी गयी है। संभव है राजशेखर का यह विवरण काव्यात्मक हो, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उपरोक्त प्रदेशों में से अधिकतर पर पहले से ही प्रतिहारों का अधिकार था। संभव है महीपाल की संकटग्रस्त स्थिति का लाभ उठाते हुए कुछ राज्यों ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी हो तथा शक्तिशाली होते ही महीपाल ने पुनः इन पर अपना अधिकार कर लिया हो। इस समय राष्ट्रकूट भी निर्बल स्थिति में थे। उनका शासक गोविन्द चतुर्थ अयोग्य एवं विलासी था। यदि उसकी स्थिति का लाभ उठाते हुए महीपाल ने कुछ दक्षिणी प्रदेशों पर धावा बोला हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्षेमीश्वर के नाटक चण्डकौशिकम् में महीपाल को कर्नाट का विजेता वताया गया है। तदनुसार 'चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की नीति का पालन करते हुए नन्दों को पराजित कर पाटलिपुत्र को जीता था। वही पुनः कर्नाट रूप से पुनर्जात नन्दों का वध करने के लिये, महीपाल रूप में अवतरित हुआ।' अधिकांश विद्वान इस महीपाल की पहचान प्रतिहार वंशी महीपाल से ही करते हैं। कर्नाट से तात्पर्य राष्ट्रकूट प्रदेश से है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र तृतीय के हाथों अपनी पराजय का बदला लेने के लिये महीपाल ने उसके उत्तराधिकारी के समय में राष्ट्रकूटों पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की थी। इसका समर्थन चाट्सु लेख से भी होता है जिसमें कहा गया है कि महीपाल के सामन्त भट्ट ने अपने स्वामी की आज्ञा से किसी दक्षिणी शत्रु को जीता था। मजूमदार के अनुसार यहां तात्पर्य राष्ट्रकूटों से ही है। मुसलमान लेखक अलमसूदी जो 915-16 ईस्वी में भारत की यात्रा पर आया था, महीपाल की अपार शक्ति एवं साधनों की प्रशंसा करता है। उसके अनुसार महीपाल के सैनिकों की कुल संख्या सात से नौ लाख के बीच थी जिसे उसने साम्राज्य के चारों दिशाओं में फैला रखी थीं क्योंकि वह सभी ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ था। उसके शत्रुओं में

---

[1] नमितमुरलमौलिः पाकलो मेखलानां रणकलित कलिंगः केलितट केरलेन्दोः ।
अजनि जितकुलूतः कुन्तलानां कुठारः, हठहृतरठमश्रीः श्रीमहीपाल देवः ।। —बाल भारत.

कूट तथा अरब प्रमुख थे। इन विवरणों से यह संकेत मिलता है कि महीपाल ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर ली।

ऐसा प्रतीत होता है कि महीपाल की सफलताओं के बावजूद राष्ट्रकूटों के आक्रमण से प्रतिहार को जो आघात पहुँचा वे सम्हल नहीं सके। महीपाल के समय में ही प्रतिहार-साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। चन्देल, परमार तथा लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। ऐसे संकेत मिलते हैं कि उसके शासन के अन्त में कालंजर तथा चित्रकूट दुर्गों पर से महीपाल का अधिकार जाता रहा। संभव है इसी चिन्ता मे उसकी मृत्यु (945 ई0 में) हो गयी हो। उसकी गणना प्रतिहार वंश के महानतम शासकों में की जा सकती है।

पाल द्वितीय तथा प्रतिहार साम्राज्य का पतन

महीपाल के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल द्वितीय राजा बना जिसने 945-48 ईस्वी तक शासन किया। आर0 डी0 र्जी का विचार है कि राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय के आक्रमण के फलस्वरूप प्रतिहार साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। तु महेन्द्रपाल का एक लेख दक्षिणी राजपूताने के प्रतापगढ़ नामक स्थान से मिलता है जिसमें दशपुर (मन्दसोर) में त एक ग्राम को दान में दिये जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि महेन्द्रपाल के समय तक प्रतिहारों का मालवा पर अधिकार पूर्ववत् बना रहा। वहाँ उसका सामन्त चाहमान वंशी इन्द्रराज शासन करता था। इसके बाद 960 ईस्वी क प्रतिहार वंश में चार शासक हुए—देवपाल (948-49 ईस्वी), विनायकपाल द्वितीय (953-54), महीपाल द्वितीय (955 ईस्वी) तथा विजयपाल (960 ईस्वी)। इन शासकों के समय में प्रतिहार-साम्राज्य की निरन्तर अवनति होती रही। वपाल के समय में चन्देलों ने कालंजर का दुर्ग प्रतिहारों से छीन लिया। खजुराहों लेख में चन्देल यशोवर्मन् को 'गुर्जरों के लिये जलती हुई अग्नि के समान' कहा गया है। इससे यह भी सूचित होता है कि अब चन्देल तथा दूसरे सामन्त भी ड़ी तेजी से सिर उठाते जा रहे थे जिन्हें नियंत्रित करने में कोई भी प्रतिहार शासक समक्ष नहीं था। विजयपाल के समय तक आते-आते प्रतिहार साम्राज्य कई भागों में बँट गया तथा प्रत्येक भाग में स्वतन्त्र राजवंश शासन करने लगे। में कन्नौज के गहड़वाल, जेजाक-भुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देल, ग्वालियर के कच्छपघात, शाकम्भरी के चाहमान, लवा के परमार, दक्षिणी राजपूताना के गुहिलोत, मध्य भारत के कलचुरिचेदि तथा गुजरात के चौलुक्य प्रमुख हैं। दसवीं शती के मध्य में प्रतिहार-साम्राज्य पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गया। अब यह कन्नौज के आस-पास ही सीमित रहा। राज्यपाल, जो विजयपाल का पुत्र था, ने 1018 ईस्वी तक कन्नौज पर शासन किया। उसने महमूद गजनवीं के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया तथा कन्नौज पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। राज्यपाल अपना शरीर लेकर भाग खड़ा हुआ तथा महमूद ने कन्नौज को खूब लूटा। राज्यपाल की इस कायरता पर तत्कालीन भारतीय शासक अत्यन्त कुपित हुए। चन्देल नरेश विद्याधर ने राजाओं का एक संघ तैयार कर उसे दण्डित करने का निश्चय किया। दूबकुण्ड लेख से पता चलता है कि विद्याधर के सामन्त कछवाहा वंशी अर्जुन ने राज्यपाल पर आक्रमण कर उसकी हत्या कर दी थी।

राज्यपाल के दो उत्तराधिकारी—त्रिलोचनपाल तथा यशपाल—के नाम मिलते हैं जिनके शासन-काल के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है। लगभग 1090 ईस्वी तक वे किसी न किसी रूप में कन्नौज अथवा उसके किसी भाग पर शासन करते रहे। इसके बाद गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य पूर्णरूपेण विलुप्त हो गया तथा कन्नौज में उसके स्थान पर गहड़वाल वंश की स्थापना हुई।

उत्तर भारत के इतिहास में प्रतिहारों के शासन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। हर्ष की मृत्यु के बाद प्रतिहारों ने प्रथम बार उत्तरी भारत में एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की तथा लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक वे इस साम्राज्य के अधिष्ठाता बने रहे। उन्होंने अरब आक्रमणकारियों से सफलतापूर्वक देश की रक्षा की। मुसलमान लेखक भी उनकी शक्ति एवं समृद्धि की प्रशंसा करते हैं। वे मातृभूमि के सजग प्रहरी थे और इस रूप में उन्होंने अपना प्रतिहार नाम सार्थक कर दिया। ग्वालियर प्रशस्ति का यह विवरण मात्र अतिरंजना नहीं लगता है कि 'म्लेच्छ आक्रमणकारियों से देश की स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा करने के लिये नागभट्ट प्रथम तथा द्वितीय एवं मिहिरभोज नारायण, विष्णु पुरुषोत्तम तथा आदि वाराह के अवतार-स्वरूप थे।' वस्तुतः यह प्रतिहारों के पराक्रम का ही फल था कि मुसलमानों को, सिन्ध और मुल्तान में अपना आठवीं शती में स्थापित कर लेने के बाद भी, लगभग तीन सौ वर्षों तक विस्तार करने का अवसर नहीं मिला तथा नियंत्रण में ही बने रहे। अनेक विदेशी इतिहासकार इस पर आश्चर्य प्रकट करते है कि जो इस्लाम धर्म विश्व के अन्य भागों में इतनी तेजी से फैल गया, वही भारत भूमि की ओर आसानी से अग्रसर नहीं हो पाया। जितने समय तक प्रतिहारों ने अरबों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया, उतने समय तक तो कुछ राजवंशों का अस्तित्व ही नहीं रहा। शान्ति काल में भी उनकी उपलब्धियां कम सराहनीय नहीं रही। उन्होंने कन्नौज को उसका प्राचीन वैभव न केवल वापस दिया अपितु उसमें इस सीमा तक अभिवृद्धि कर दी कि आचार-विचार, सुसंस्कार एवं सभ्यता की दृष्टि से देश के अन्य

भागों के लोग यहाँ के निवासियों का अनुकरण करने लगे। शक्ति तथा सौन्दर्य में इसकी बराबरी करने वाला कोई दूसरा नगर नहीं रहा। कुछ विद्वान् हर्ष के स्थान पर प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल प्रथम को ही हिन्दू भारत का अन्तिम महान शासक स्वीकार करते हैं।[1]

गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तर भारत की राजनीतिक दशा

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है हर्ष की मृत्यु के उपरान्त प्रतिहारों ने सम्पूर्ण उत्तर भारत में एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया। किन्तु विजयपाल (960 ई0) के समय तक आते-आते विशाल प्रतिहार साम्राज्य पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गया तथा उत्तर भारत में पुनः राजनैतिक अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। प्रतिहार साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर जिन राजवंशों का उदय हुआ, उनका इतिहास अग्रलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत किया जायेगा।